एक निंदनीय फैसला

प्रशांत भूषण

आखिरकार हमें उच्चतम कोटि के विशेषज्ञों ने जता दिया है। उच्चतम न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश श्री ए.एस. आनंद और न्यायमूर्ति श्री बी.एन. किरपाल का फैसला है: बड़े बांध पर्यावरण को नुकसान नहीं पहुंचाते हैं; वे विस्थापितों के हालात बेहतर बनाते हैं; और दरअसल किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि के लिए अपरिहार्य हैं।

सरदार सरोवर परियोजना पर दिए गए फैसले में ये महानुभाव कहते हैं - ''अनुभव यह नहीं जतलाता कि बड़े बांधों के निर्माण में लगी लागत के नतीजे लाभप्रद नहीं होते हैं या फिर इससे इकॉलॉजी और पर्यावरण को किसी भी तरह का ह्रास हुआ है। इसके विपरीत बड़े बांधों के निर्माण से इकॉलॉजी समृद्ध ही हुई है।'' वे कहते हैं - ''याचिका दायर करने वाले एक भी ऐसी मिसाल नहीं दे पाए हैं, जो साबित कर सके कि एक बांध के निर्माण से कुल मिलाकर पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।''

देश के हर व्यक्ति को, जिसमें न्यायाधीश भी शामिल हैं, इन मामलों पर अपने मत रखने का हक है। लेकिन दुख की बात तब है जब ऐसे व्यक्तिगत मत किसी न्यायालय के फैसले के रूप में परोसे गए हैं। ऐसा इसलिए कि एक न्यायाधीश के लिए ज़रूरी है कि वह मुद्दों का निर्णय उसके सामने रखे गए ठोस प्रमाणों के आधार पर करे, न कि अपने व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों की बिनाह पर।

वे आगे कहते हैं कि अनचाहे विस्थापन के अधिकांश मामलों में विस्थापन के बाद 'विस्थापितों' के हाल बेहतर ही रहे हैं। ''एक सही तरीके से तैयार की गई राहत व पुनर्वास योजना विस्थापितों के जीवन स्तर को बेहतर ही बनाएगी। मसलन, भाखरा नंगल बांध, नागार्जुन सागर बांध, टिहरी, भिलाई इस्पात कारखाना, बोकारो व बाला लौह इस्पात कारखाना तथा ऐसी ही कई अन्य विकास परियोजनाओं के आसपास बसे गांवों के निवासी उन लोगों के मुकाबले बेहतर स्थिति में हैं, जिनके गांवों के पास विकास की कोई परियोजनाएं नहीं आईं। यह उचित नहीं कि विकास से अछूते गांवों के लोग व आदिवासी, विज्ञान और तकनीक की बदौलत पाए बेहतर स्वास्थ्य और आला दर्जे के जीवन के लाभों को चखे बगैर उन्हीं परिस्थितियों में बने रहें।''

तो अब देश के सर्वोच्च न्यायाधिपतियों ने बड़े बांधों के गुणों पर अपने ज़ोरदार समर्थन का ठप्पा लगा दिया है। देश के हर व्यक्ति को, जिसमें न्यायाधीश भी शामिल हैं, इन मामलों पर अपने मत रखने का हक है। लेकिन दुख की बात तब है जब ऐसे व्यक्तिगत मत किसी न्यायालय के फैसले के रूप में परोसे जाएं। ऐसा इसलिए कि एक न्यायाधीश के लिए ज़रूरी है कि वह मुद्दों का निर्णय उसके सामने रखे गए ठोस प्रमाणों के आधार पर करे, न कि अपने व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों की बिनाह पर। यहां ये कथन एक ऐसे मामले पर किए गए हैं जहां व्यापक स्तर पर बड़े बांधों की वांछनीयता और उनकी व्यावहारिकता मुद्दा नहीं था और जहां न्यायालय ने याचिकाकर्ताओं को बार बार निर्देशित किया था कि वे इस बाबत कोई भी दलील न रखें। उतनी ही व्यथित करने वाली बात यह है कि न्यायाधीशों के समक्ष इन तथ्यों पर किसी भी तरह की प्रमाण-प्रस्तुति के बगैर ये अधिकथन दिए गए हैं।

रज़ामंदी के बिना विस्थापित किए गए लोगों की समस्याओं और बांध के जलग्रहण क्षेत्र, कमान क्षेत्र व बांध के बाद वाली नदी के इलाकों की इकॉलॉजी पर पड़ने वाले दूरगामी दुष्प्रभावों के विषय में बढ़ती समझ के चलते बड़े बांधों का मुद्दा, पिछले कुछ वर्षों में अत्यन्त विवादास्पद हो चला है। अधिकांश विकसित देशों ने बड़े बांधों का निर्माण बन्द कर दिया है; कुछ को तो ढहाना भी शुरू कर दिया है। हाल ही में विश्व बैंक ने दुनिया भर में बड़े बांधों के औचित्य का पुनरावलोकन करने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग का गठन किया। वर्ल्ड कमीशन ऑन

डैम्स (डब्ल्यू.सी.डी.) में बांध निर्माण उद्योग और बांध प्रभावित संगठनों समेत बांध सम्बंधी सभी प्रमुख घटकों के प्रतिनिधि शामिल हैं। डब्ल्यू.सी.डी. ने हाल ही में अपने भारतीय राष्ट्रीय अध्ययन *(India country study)* को प्रकाशित किया है जिसमें इस देश में बड़े बांधों के प्रभाव का काफी निराशाजनक चित्र उभरता है। इस रिपोर्ट के अनुसार,

> ''एक व्यवस्थित तरीके से लागत को कम आंका जाता है और फायदों को बढ़ा चढ़ाकर रखा जाता है, ताकि यह दर्शाया जा सके कि आवश्यक लाभ-लागत अनुपात को हासिल कर लिया गया है। लेकिन वास्तविक क्रियान्वयन के समय लागत में बड़ी मात्रा में वृद्धि, लम्बे विलम्ब और परियोजना की रूपरेखा व विस्तार में फेरबदल होते नज़र आते हैं। इसके विपरीत फायदे अनुमानित आंकड़ों से कहीं कम मिल पाते हैं जैसा कि वास्तविक सिंचित क्षेत्रफल और अपेक्षा से कहीं कम हुए उत्पादन से झलकता है।''

रिपोर्ट यह निष्कर्ष निकालता है कि अधिकांश विशाल व मध्यम सिंचाई परियोजनाएं व्यावहारिक नहीं हैं। पन-ऊर्जा पर रिपोर्ट का निष्कर्ष है कि,

> ''ऊंचे लागत मूल्यों, प्रक्रिया में लगने वाले लम्बे समय और सामाजिक-पर्यावरणीय मूल्यों के चलते अन्य उपायों के मुकाबले पन-ऊर्जा बेहतर उपाय नहीं है''

भारत की कई पनबिजली परियोजनाओं के काम के विस्तृत अध्ययन के बाद ये निष्कर्ष निकाले गए हैं। इसके विपरीत बगैर किसी प्रमाण के की गई न्यायाधीशों की अतिरंजित व्याख्या को देखें - ''पनबिजली परियोजनाओं में बिजली उत्पादन के खर्च उल्लेखनीय रूप से कम हैं''

डब्ल्यू.सी.डी. के *भारत अध्ययन* का अनुमान है कि हमारे देश में बड़े बांधों से तकरीबन 5.6 करोड़ लोगों (इनमें 62 प्रतिशत अनुसूचित जाति व जनजातियों के लोग हैं) का विस्थापन उनकी मर्ज़ी के बगैर हुआ है। इसके अलावा 50 लाख हेक्टेयर से अधिक जंगल इन बांधों की डूब में आए हैं। बिना प्रमाण वाले न्यायाधीशों के कथन के विपरीत यह रिपोर्ट कहती है कि,

> ''बिजली व सिंचाई के क्षेत्र में इन बांधों से होने वाले फायदे आम तौर पर बांध प्रभावितों और अन्य गरीब समुदायों को दरकिनार करते हुए, बड़ी ज़मीन वाले बड़े किसानों, शहरी उपभोक्ताओं और अन्य सम्पन्न लोगों की ही झोली में गिरते हैं।'' रिपोर्ट का निष्कर्ष है कि ''बड़े बांधों की लागत व उससे होने वाले फायदों का वितरण, सामाजिक-आर्थिक विषमताओं को बढ़ावा ही देते नज़र आते हैं।'' सरदार सरोवर परियोजना पर विशेष रूप से, विश्व बैंक ने एक उच्च स्तरीय स्वतंत्र समीक्षा समिति (जिसे मोर्स समिति के नाम से जाना जाता है) को नियुक्त किया था। इस समिति ने दस माह के गहन अध्ययन के बाद जून, 1992 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट के निष्कर्ष हैं
>
> ''ऐसे महत्वपूर्ण पूर्वानुमान जिन पर परियोजनाएं आधारित हैं, अब या तो बेबुनियाद साबित हो चुके हैं या फिर सवालों के घेरे में हैं। यह भी साफ है कि परिणामों की पूरी समझ के बिना ही कई सामाजिक व पर्यावरणीय सौदे किए जा चुके हैं, और अब भी किए जा रहे हैं। इसके नतीजतन फायदों को बढ़ा चढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता है जबकि सामाजिक और पर्यावरणीय कीमत लगातार कम करके आंकी जाती है। विश्लेषणों का स्थान दावों ने ले लिया है।''
>
> ''हमें लगता है कि सरदार सरोवर परियोजनाएं अपने वर्तमान स्वरूप में अत्यन्त त्रुटिपूर्ण हैं। मौजूदा परिस्थितियों में इन परियोजनाओं द्वारा विस्थापित तमाम लोगों का पुनर्स्थापन और पुनर्वास सम्भव ही नहीं है। और यह भी कि परियोजनाओं के पर्यावरणीय प्रभावों पर न तो कायदे से विचार किया गया है और न ही उन पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है।''
>
> ''सरदार सरोवर के पर्यावरणीय पक्ष का इतिहास नियमों को दरकिनार करने का इतिहास है। इसके प्रभावों सम्बंधी कोई विस्तृत व्याख्या नहीं की गई है। पर्यावरण सम्बंधी समस्याओं के स्वरूप व विस्तार और उनके समाधान अब भी पकड़ से बाहर हैं।''
>
> ''यह साफ है कि इंजीनियरिंग और आर्थिक अनिवार्यताओं ने परियोजना को मानवीय और पर्यावरणीय सरोकारों की अवहेलना करने की ओर धकेला है। ऐसे सामाजिक और पर्यावरणीय सौदे किए गए हैं जिनका समर्थन करना आज के दौर में सम्भव ही नहीं।''

इतने प्रबल तर्कों के आधार पर टिकी इस उच्च स्तरीय समिति की रिपोर्ट को न्यायमूर्ति किरपाल के

यह बात तो पर्यावरण मंत्रालय द्वारा ही दर्ज की गई है कि, ''पर्यावरण, वन एवं वन्य जीवन मंत्रालय का यह मत है कि चाहे कार्य रूप में हो या अध्ययनों की मार्फत, अब तक जो कुछ भी किया गया है वह न केवल बेहद नाकाफी है, बल्कि कई मामलों में तो अभी शुरुआती और प्राथमिक चरणों में ही है।''

फैसले में यह कहकर नज़रअंदाज़ कर दिया गया है कि इसे विश्व बैंक या भारत सरकार ने स्वीकार नहीं किया था। सामान्यतः सरकारी समितियों से असंतुष्ट होने की सूरत में न्यायालय खुद नियमित रूप से विशेषज्ञ समितियों को नियुक्त करता है और ऐसी समितियों की रपटों पर कार्यवाही भी करता है। लेकिन आश्चर्य है कि इस मामले में वह विश्व बैंक और भारत सरकार का अनुमोदन न पाने वाली एक रिपोर्ट की ओर देखने से भी इंकार करता है।

सरदार सरोवर परियोजना के कुछ खास पहलुओं पर नज़र डालने के लिए भारत सरकार द्वारा गठित पांच सदस्यीय समूह की दो रपटों के साथ भी लगभग यही सलूक किया गया है। इस समूह ने साफ तौर पर एक ऐसे पुनर्वास मास्टर प्लॉन की ज़रूरत की ओर इशारा किया है जिसमें

> ''ऐसे सभी वर्गों, समूहों, समुदायों और व्यक्तियों की पूरी गणना की जा सके जो किसी भी तरह से प्रभावित हैं। इनमें नहर से प्रभावित होने वाले व्यक्ति, बांध के बाद के नदी क्षेत्र में रहने वाले प्रभावित व्यक्ति, ऐसे समूह व व्यक्ति जो अन्य लोगों को आवश्यक सामान व सेवाएं प्रदान करते रहे हैं आदि सभी शामिल किए जा सकें, ताकि नियोजन के लिए आवश्यक जानकारियों का आधार ज़्यादा से ज़्यादा व्यापक बन सके। बड़ी संख्या में वर्ग विशेष के अनुरूप पुनर्वास पैकेज बनाए जाने चाहिए।''

इसके बावजूद न्यायालय का कहना है कि विस्थापितों के अन्य वर्गों (जैसे नहर प्रभावित, कॉलोनी प्रभावित, द्वितीयक विस्थापन की चपेट में आने वालों) के पुनर्वास की कोई ज़रूरत नहीं, ना ही वह इस हेतु कोई आदेश, कोई करार देता है।

पांच सदस्यीय समूह के साथ-साथ लगभग सभी आधिकारिक एजेंसियां और नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण स्वयं विस्थापितों के सामुदायिक पुनर्वास की ज़रूरत पर ज़ोर देते हैं। उनके अनुसार एक गांव के विस्थापितों का यह हक है कि यदि वे चाहें तो उन्हें इकट्ठा ही पुनर्स्थापित किया जाए। यह तो नर्मदा नियंत्रण प्राधिकरण के पुनर्वास मास्टर प्लॉन में ही कहा गया है कि ''विस्थापन के तुरन्त बाद... विस्थापितों को उनकी पसंद के अनुसार ग्रामीण इकाइयों, ग्रामीण खण्डों अथवा परिवारों के रूप में दोबारा बसाया जाएगा।'' यही बात सभी राज्य सरकारों व नर्मदा नियंत्रण प्राधिकरण के राहत व पुनर्वास उपसमूह के साथ-साथ सभी मॉनिटरिंग एजेंसियों ने भी दोहराई थी। बावजूद इन तमाम बातों के न्यायालय इस बात पर कायम है कि इन आदिवासी बाहुल्य विस्थापितों के लिए सामुदायिक पुनर्वास ज़रूरी नहीं है।

पर्यावरणीय मंजूरी

न्यायमूर्ति भरुचा ने अपने अल्पमत निर्णय में परियोजना को पर्यावरणीय मंजूरी दिए जाने की बात पर ध्यान दिलाया है कि मंजूरी से पहले की आधिकारिक टिप्पणियों में, यहां तक कि मंजूरी के सशर्त आदेशों में भी यह तथ्य साफ नज़र आता है कि उस समय तक बेहद बुनियादी पर्यावरणीय प्रभाव सम्बंधी अध्ययन तक नहीं किए गए थे। फिर,यह बात तो पर्यावरण मंत्रालय द्वारा ही दर्ज की गई है कि, ''पर्यावरण, वन एवं वन्य जीवन मंत्रालय का यह मत है कि चाहे कार्य रूप में हो या अध्ययनों की मार्फत अब तक जो कुछ भी किया गया है वह ना केवल बेहद नाकाफी है, बल्कि कई मामलों में तो अभी शुरुआती और प्राथमिक चरणों में ही है।'' प्रधानमंत्री को भेजी गई अपनी टिप्पणी में जल संसाधन मंत्रालय ने कहा है, ''पुनर्वास की व्यापकता जिसमें भारी संख्या में आदिवासी शामिल हैं, जैव विविधता सम्पन्न व्यापक वनक्षेत्र का नुकसान और परियोजना की अतिविशाल लागत को ध्यान में रखते हुए और यह भी देखते हुए कि अनिवार्य पक्षों पर अभी भी आधारभूत सूचनाएं उपलब्ध नहीं हैं, केवल एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये परियोजनाएं अभी स्वीकृति के लिए तैयार नहीं हैं।'' इन हालातों के बावजूद

परियोजना को जून 1997 में सशर्त पर्यावरणीय मंजूरी दे दी गई। न्यायमूर्ति भरुचा ने उपरोक्त शर्तों के उल्लंघन की ओर भी इंगित किया है। उनका कहना है कि परियोजना के समग्र पर्यावरणीय प्रभाव को लेकर आज तक भी कोई अध्ययन नहीं हुआ है। फिर भी परियोजना को आगे बढ़ाए जाने की अनुमति दी जा रही है। यही कारण है कि उन्होंने परियोजना के विस्तृत पर्यावरणीय प्रभावों पर अध्ययन किए जाने का निर्देश दिया है और आगे के निर्माण कार्य को तब तक रोके रखने की बात कही है जब तक यह अध्ययन पूरा कर, उसे मंजूरी नहीं दे दी जाती।

परन्तु न्यायमूर्ति किरपाल का बहुमतीय निर्णय इस बात पर कायम रहा है कि ''राहत व पुनर्वास को लागू किए जाने के मुद्दे के अलावा, बांध की ऊंचाई, डूब के विस्तार, पर्यावरणीय अध्ययन व मंजूरी, जल विज्ञान, भूकंपनीयता व अन्य मुद्दों को इस विलंबित परिस्थिति में उठाने की अनुमति नहीं दी जा सकती।'' (विडम्बना है कि यह कथन उन न्यायाधीशों का है जिन्होंने प्रदूषण और वन कटाई के मामलों में कड़े निर्देश जारी कर *पर्यावरण स्नेही न्यायाधीशों* के रूप में प्रसिद्धि पाई है।) ऐसा कह चुकने के बाद, बहुमत फैसला आगे कहता है कि ''पर्यावरण सम्बंधी सभी मुद्दे ध्यान में रखे गए हैं और नर्मदा नियंत्रण प्राधिकरण (एन.सी.ए.) के पर्यावरण उपसमूह द्वारा उन्हें देखा समझा जा रहा है।'' बहुमतीय फैसला एन.सी.ए. और उसके उपसमूहों में अपना पूर्ण विश्वास व्यक्त करता है। उसके अनुसार, ''यह स्वीकारना सम्भव नहीं है कि एन.सी.ए. को एक स्वतंत्र प्राधिकरण न माना जाए।'' बावजूद इस तथ्य के कि अपने पुनर्वास उपसमूह द्वारा मिली अनुमति के बगैर एन.सी.ए. ने बांध-कार्य को बढ़ाए जाने हेतु लगातार मंजूरी दी है; और यह भी कि इसी के चलते न्यायालय ने 1995 से 1999 के चार वर्षों तक बांध निर्माण के काम को रोकने का आदेश दिया था, यह कथन उवाचा गया है।

यह दुखद है कि, न्यायालय ने 90 मीटर की ऊंचाई तक बांध के तुरन्त निर्माण को जो अनुमति दी है वह 1999 के प्रारंभ में एन.सी.ए. द्वारा दी गई मंजूरी के आधार पर ही है। जबकि तथ्य तो यह है कि मध्यप्रदेश सरकार ने खुद स्वीकार किया था कि वह इस ऊंचाई पर प्रभावित होने वाले कम से कम 156 परिवारों (जिनका म.प्र. में पुनर्वास किया जाना है) को कृषि भूमि देने की स्थिति में नहीं है। न्यायालय ने स्वयं दर्ज किया है कि 90 मीटर की ऊंचाई पर प्रभावित म.प्र. के 6 गांवों में नियमानुसार भूमि अधिग्रहण नहीं हुआ है। यानी 90 मीटर तक का यह निर्माण नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण का ही उल्लंघन करता है जिसके आदेशानुसार किसी विस्थापित की ज़मीन को किसी भी हाल में तब तक जल मग्न नहीं किया जा सकता जब तक उनका पुनर्वास न हो गया हो।

न्यायालय ने स्वयं दर्ज किया है कि 90 मीटर की ऊंचाई पर प्रभावित म.प्र. के 6 गांवों में नियमानुसार भूमि अधिग्रहण नहीं हुआ है। यानी 90 मीटर तक का यह निर्माण नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण का ही उल्लंघन करता है जिसके आदेशानुसार किसी विस्थापित की ज़मीन को किसी भी हाल में तब तक जल मग्न नहीं किया जा सकता जब तक उसका पुनर्वास न हो गया हो।

ऐसे में इस बहुमतीय फैसले को समझने का एक मात्र तरीका है इसे बड़े बांधों, खास तौर पर इस परियोजना विशेष की वांछनीयता को लेकर इस निर्णय के लेखकों के पूर्वाग्रहों और अभिमतों के संदर्भ में देखना है; ये पूर्वाग्रह उपरोक्त गद्यांशों में साफ झलकते हैं।

नर्मदा बचाओ आंदोलन इस मामले को न्यायालय में ले जाने में अनिच्छुक था क्योंकि आंदोलन से जुड़े कई लोग न्यायालय को सम्पन्न, शक्तिशाली व प्रभावशाली वर्ग के साधन के रूप में देखते हैं। लेकिन चूंकि मेरा इस पर पूरा भरोसा था मैंने उन्हें न्यायालय में आने हेतु राजी किया। परन्तु मुझे स्वीकारना होगा कि मैं गलत साबित हुआ हूं। यह फैसला निश्चित ही उन सबों के विश्वास को डिगाएगा जो कमज़ोर और दबे हुए तबकों के अधिकारों को राज्य और शक्तिशाली निहित स्वार्थों के आक्रमण से बचाने और उन्हें सुरक्षित रखने में न्यायालय को सक्षम मानते हैं।

ऐसे फैसलों के चलते वह दिन दूर नहीं जब लोग न्यायालय को एक भ्रष्ट व्यवस्था को वैधता प्रदान करने वाले एक ढांचे के रूप में देखने लगेंगे। ***(स्रोत फीचर्स)***

प्रशांत भूषण : भारत में सर्वोच्च न्यायालय में वरिष्ठ अधिवक्ता हैं। अनुवाद सुश राव